6424

સૂરિ
ર,
નગર

सितम्बर १९९२
षोडश वर्ष : पंचम अंक

तित्थयर

जैन भवन

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १६ : अंक ५

सितम्बर १९९२

☐

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

☐

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

☐

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

☐

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-१०

सूची

अन्तर्यात्रा का प्रस्थान बिन्दु १३१

बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन १४०

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १५१

संकलन १५८

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या १५९

अम्बिका, एलोरा

अन्तर्यात्रा का प्रस्थान बिन्दु

उपाध्याय श्री अमर मुनि

[अध्यात्मयोगी आनन्दघनजी की वह पंक्ति अनायास ही स्मरण हो रही है "अब हम अमर भए ना मरेंगे" अमरमुनि तो अमर ही थे, अमर ही रहेंगे अतः गंगाजल से ही गंगा-पूजा की भाँति उनका 'अन्तर्यात्रा का प्रस्थान बिन्दु' प्रकाशित कर उनके ६०वें जन्म-दिवस पर उन्हें अपनी हार्दिक पुष्पांजलि प्रदान करते हैं।
—सम्पादक]

आचार्य उमास्वाति कहते हैं—"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्-दर्शनम्"—अर्थात् तत्त्वरूप अर्थ पर श्रद्धा करना सम्यक्-दर्शन है। दर्शन के इस महापण्डित ने प्रस्तुत लघुकाय एक सूत्र में जितनी गहरी बात कह दी है, वह गम्भीर विचार के योग्य तो है ही, साथ-साथ दार्शनिक-चिन्तन की महत् उपलब्धियों की अर्थवेत्ता का भी दिग्दर्शन कराती है एवं साधना के प्रस्थान-बिन्दुओं का स्पष्टीकरण करती है। दर्शन का महान् आचार्य इस सूत्र के माध्यम से कहता है कि सत्य का जो तत्त्वरूप अर्थ है, उसका निष्ठापूर्वक सम्यक्-रूपेण दर्शन करना ही जीवन का प्रथम श्रेयस् है।

अनन्त अनादिकाल से ही मनुष्य सत्य की महत् उपलब्धियों का अन्वेषण करता आ रहा है। यह उसकी सत्य एवं परम सत्य के प्रति एक सहज जिज्ञासा है। परम चैतन्य की उपलब्धि की दिशा में एक आन्तरिक प्रेरणा-दायक शक्ति है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील जगत् की उत्पत्ति, विकास और विनाश के मध्य हो रही अदृश्य लीला के सम्बन्ध में मानव की वृत्ति एवं प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही उत्सुक रही है। वह विश्व के सारे रहस्यावृत परिवेश के कार्य-कारण संबंधों, गूढ़ रहस्यों और विवेचना की पद्धतियों के बारे में एक सहज आन्तरिक अपनत्व की भावना रखता है और उनके समस्त आयामों को पकड़ लेना चाहता है। उसकी जिज्ञासा क्षितिज के पार—दूर और बहुत दूर तक की तमाम सीमाओं और संभावनाओं को अपने ज्ञान की इयत्ता की परिधि में आबद्ध कर लेना चाहती है। मनुष्य के अन्तर्मन की इस तीव्र आकांक्षा ने ही उसे सत्यान्वेषण की दिशा में अनवरत गतिमान बनाया और जिज्ञासा के विभिन्न पहलुओं को अपनी मनस्-प्रज्ञा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया है।

सम्पूर्ण चराचर में सत्य विद्यमान है, यह जो चेतना की प्रखर-दीप्ति अणु-अणु को प्रकाश से आप्लावित कर रही है, वह मानव के समग्र कार्य-व्यापार को स्वच्छ जल की भाँति निर्मलता प्रदान कर रही है। इसे हम प्रज्ञा का

बोधमय संसार कह सकते हैं। विभिन्न युगों में विभिन्न महापुरुषों ने, चिन्तकों ने, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का, विश्व के तमाम सत्यों को जीवन में उपलब्ध करने का सर्वदा सर्व-मंगल भाव उत्पन्न किया है। मन, वाणी और कर्म के परम तेजस् की ओर केन्द्रित किया है। मनुष्य की जो चैतन्य अवस्था है, चिन्तन के जो ऋजु संकल्प हैं, वे मनुष्य को तर्क और भाव दोनों ही प्रकार की मनीषाओं से समन्वित करते हैं और एक महिमामयी स्पन्दन से मानवीय भाव-पुष्प-वृक्ष का सौरभ दूर देशान्तरों तक पहुँचा आने का गुरु-कार्य शब्द समीर के हाथों सौंपते हैं।

सत्य के प्रति होने वाले उक्त आग्रह ने एक ओर जहाँ संकीर्ण सीमाएँ खड़ी की हैं, वहीं आकाश की भांति इसका विस्तार भी किया है। अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर जगत् के तमाम रहस्यों को अनुभूति में न समा पाने वाली अपने तर्क की चादर पर तमाम मन्तव्यों को पसार कर, एक-एक रेशे को उधेड़ कर मनुष्य जान लेना चाहता है वस्तुतः यथार्थ सत्य क्या है ? विभिन्न दृष्टियों से, शास्त्रों के विभिन्न द्वारों से, धर्माचार्यों के विभिन्न अनुभूत तथ्यों से वह अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला को परिचित कराना चाहता है और इस बिन्दु पर आकर ज्ञान की भाव समृद्धि के साथ चिन्तन के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाना चाहता है। आर्यावर्त की पुष्पमयी धरती की यह वह महान् ऊर्जा है, जिसकी उष्मा सहस्राब्दियों से मानव के अन्तर की अनन्त शक्ति को ज्ञात कर लेने का सोऽहं भाव विश्व वाङ्मय की चेतना में प्रसारित कर रही है !

भारतीय धर्माचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से सम्यक् रूपेण सत्य को अनुभूत कर लेने का जो मार्ग बतलाया है, उसमें जो सबसे बड़ी बात सामने आती है, वह है दृष्टि की विशुद्धता, मनश्चेतना की ऋजुता, चित्त के एकाग्रीकरण की अखण्ड एवं निर्द्वन्द्व धारणा। विश्व में जो कुछ भी यथार्थ है उसे जान लेना इतना सहज नहीं है, जितना कि साधारणतया लोग समझ बैठते हैं। विश्व के रहस्यों को जानने के लिए, वस्तु के यथार्थ स्वरूप से परिचित होने के लिए दृष्टि की पक्ष-मुक्तता, समुन्नतता, चिन्तन की एकाग्रता एवं मन की निर्मलता नितान्त आवश्यक है। जब तक शुचिता के ये सारे स्वरूप मनुष्य को उपलब्ध नहीं होंगे, तब तक सम्यक्रूपेण यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। अतएव हर जिज्ञासु को इस दिशा में गतिमान होने के पूर्व अपने चिन्तन का परिष्कार कर लेना चाहिए, अन्यथा हृदय में विशुद्ध भाव उत्पन्न नहीं होगा। और जहाँ विशुद्ध भाव नहीं है वहाँ शुद्ध सत्य की अनुभूति भी असम्भव है।

'स्व एवं पर' को जानने की जिज्ञासा के सम्बन्ध में भगवान् महावीर दृष्टि के परिष्कार की बात कहते हैं। उनका कहना है कि दृष्टि की शुद्धि के बिना 'स्व' या 'पर' किसी भी द्रव्य या पदार्थ अथवा तत्त्व का सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता। कोई भी वस्तु हो, कोई भी आगम-शास्त्र हो, किसी भी महापुरुष के वचन हो, उनका यथार्थ मर्म उसी के अन्तर में प्रकाशमान होता है जिसकी दृष्टि शुद्ध है, आग्रह-दुराग्रह से रहित है। वस्तु, वस्तु है। शास्त्र, शास्त्र हैं। उसे ग्रहण करने की, देखने की दृष्टि अगर सम्यक् है, तो वह उसके लिए सम्यक् रूप में परिणत होते हैं। अन्यथा आग्रहग्रहित मानव का अशुद्ध मन और अधिक असत्य के सघन अन्धकार में भटक जाता है। शास्त्र प्रकाश भी है, और अन्धकार भी। शुद्ध दृष्टि के लिए प्रकाश है, तो अशुद्ध दृष्टि के लिए अन्धकार।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की जिज्ञासु वृत्ति में विशुद्ध भावना प्रस्फुटित हो। उच्चतर अवस्था की जो भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, वे साधक से यह प्राथमिक अपेक्षा रखती हैं कि वह तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त हो और सत्य के प्रति समर्पित विशुद्ध भाव चेतना की सामग्रिक शक्ति को प्राप्त करे। जहाँ पूर्वाग्रहों के रंग मन-मस्तिष्क को आच्छादित किये रहते हैं, जहाँ चिन्तन में कुछ पूर्व धारणायें अवस्थित रहती हैं, वहाँ उन्हीं के अनुरूप वस्तु का स्वरूप परिलक्षित होता है। सत्य को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की सभी अहं भावनाओं का साधक को परित्याग करना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं हो पाता है, वहाँ उसी का दर्शन होता है जिसकी एक भाव-मूर्ति मन में पहले से अवस्थित रहती है। ऐसा आग्रही साधक सत्य को प्राप्त करने में, चैतन्य की स्वानुभूति को भाव-समुद्र के अतल तल में ले जाने में असमर्थ रहता है। इतिहास साक्षी है कि ज्ञान के महासागर के पास जाकर भी अशुद्ध दृष्टि के लोग कुछ नहीं प्राप्त कर सके। भगवान् महावीर जैसे विराट् ज्योतिर्मय महापुरुष के सम्पर्क में छह वर्ष तक गोशालक रहकर भी उस महाप्रकाश से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका। उसका अन्तर-मन क्रोध, अहंकार, द्वेष, घृणा, नफरत, वैर एवं प्रतिशोध की आग में ही जलता रहा। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि उसकी पूर्वाग्रह-ग्रस्त मानसिक प्रवृत्तियाँ परिष्कृत नहीं हो सकी। अहं आदि विकारों के विसर्जित नहीं हो जाने के कारण वह घृणा एवं द्वेष के सिवा अन्य कुछ भी नहीं प्राप्त कर सका। और तो और, एक दिन तो उसने अपने परमाराध्य महान् गुरु को भस्म करने के लिए घृणित प्रयत्न भी किया था। यही हाल जमाली का हुआ। वह वीतराग महावीर के श्रीचरणों

में रहकर भी श्रेयस् तक नहीं पहुँच पाया। इतिहास में यत्र-तत्र इस प्रकार के सहस्राधिक उदाहरण आज भी उपलब्ध हैं।

शान्ति के महान् अग्रदूत तथागत बुद्ध का शिष्य देवदत्त भी इसी प्रकार के भयंकर पूर्वाग्रहों में उलझकर रह गया। बुद्ध जैसे महापुरुष के समीप रहकर भी दृष्टि की मलिनता के कारण वह अभीष्ट महत् की उपलब्धि नहीं कर सका। इतना ही नहीं, उसने उस प्रबुद्धचेता को मारने की भी विभिन्न चेष्टाएँ कीं। ऐसा क्या था, जिसके कारण महापुरुषों के सान्निध्य में रहकर भी इनकी अहंजन्य उद्दंडता समाप्त नहीं हो सकी और वे विनम्र भाव से शुद्ध सत्य के अन्वेषी नहीं बन सके? इन सारी बातों की पृष्ठभूमि में एक ही बात परिलक्षित होती है कि इनकी दृष्टि में व्यामोह का तमस् था, भावनाओं में मलिनता थी और उनके अन्तश्चक्षुओं पर पूर्व धारणाओं के रंगीन चश्मे चढ़े थे।

इन सारी बातों के पश्चात् सर्वतोभावेन एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जब हम स्वयं के पूर्व-प्रतिबद्ध आग्रह को सूत्र बनाकर चलते हैं, तब हम अनन्त ज्योतिर्मय सत्य को उपलब्ध कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए भगवान् महावीर सत्य के पक्षमुक्त शुद्ध स्वरूप को देखने की विशाल एवं समुन्नत शक्ति प्राप्त करने के लिए पूर्वाग्रहों के परित्याग की बात कहते हैं। बाह्य पदार्थों का अल्प या पूर्ण त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है त्याग-वृत्ति की भावना। जब तक दृष्टि आग्रहमुक्त नहीं होती, तब तक सत्य को अनुभूत कर पाना असम्भव है। इसी परिष्कृत तत्त्वमयी शुद्ध दृष्टि को भगवान् महावीर सम्यक्-दर्शन कहते हैं।

यह सत्य है कि शास्त्र, सत्य के साक्षात् द्रष्टा महापुरुषों की वाणी के संकलन हैं, परन्तु यदि उनका अध्ययन किसी प्रकार के आग्रह को मन में रखकर किया जाता है, तब सत्य उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत उसके स्थान पर परिणामस्वरूप तथाकथित विभिन्न पंथों के चक्रव्यूह निर्मित हो जाते हैं। जैन-परम्परा में भी इस प्रकार के बहुत से पन्थों का निर्माण हो गया है। ये सभी पंथ भगवान् महावीर का नाम लेते हैं। उन्हें अपना आराध्य देव मानते हैं। बात-बात पर उनके द्वारा प्ररूपित शास्त्रों को सामने रखते हैं। परन्तु विडम्बना की बात यह है कि इन तमाम पंथों में परस्पर बेतुका संघर्ष छिड़ा हुआ है। और दुर्भाग्य है कि वे सारे के सारे संघर्ष भगवान के नाम पर हैं, आगमों के ऊपर हैं। अन्तर शास्त्रों में या उनके शब्दों एवं मन्तव्यों में नहीं

है। अन्तर उनकी अर्थ व्यंजना में है। हर पंथ अपने मान्य आग्रह के अनुरूप उन शब्दों का अर्थ करता है। ऐसी अवस्था में सही-गलत का निर्णय कर पाना कितना कठिन है, इसे कोई भी विचारक महसूस कर सकता है। अहं-कार एवं दम्भ के साथ स्वयं को महावीर का सच्चा अनुयायी कहना एवं अपने पंथ को ही सम्यक्त्व का निर्णायक बिन्दु मानना, मिथ्यादृष्टि नहीं, तो और क्या है? पंथों की उक्त स्थिति पर विचार करने के पश्चात् ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर के प्रवचनों की, आगमों की तथा उनके विचारों की दुहाई तो बहुत दी जाती हैं, पर उनको सही रूप से समझा नहीं गया है। शास्त्रों का पारायण इस पद्धति से किया जा रहा है कि जिसमें सत्य नहीं, बल्कि अपनी मान्यताएँ उपलब्ध हों—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।"

ऐसी अवस्था में कुछ यथाप्रसंग परिकल्पित साम्प्रदायिक मान्यताएँ वीतराग की वाणी को अपनी पूर्व निर्धारित चिन्तना के साँचे में ढालने का प्रयास करती हैं। अपनी मान्यता के अनुसार वे भगवान् महावीर और उनके दर्शन की व्याख्या करना आरम्भ कर देते हैं। सचेल-अचेल आदि के अनेक एकान्तवाद इसी आधार पर पल्लवित हुए हैं, जो आज दिगम्बर और श्वेता-म्बर आदि के अखाड़ों के रूप में बुरी तरह संघर्षरत हैं। यह बात सिर्फ जैनधर्म के विभिन्न पंथों में ही है, ऐसी बात नहीं है। अन्यत्र भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

विश्वचेता श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत भगवद्गीता ही उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष है। गीता का शब्दशरीर एक है, परन्तु अपनी पन्थगत मान्यता के अनुसार विद्वानों ने उस पर विभिन्न भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं। शंकर गीता की अद्वैतपरक व्याख्या करते हैं। रामानुज विशिष्टाद्वैतपरक। कोई गीता में एकान्त कर्मयोग देखता है, तो कोई ज्ञानयोग एवं भक्तियोग। उपनिषदों की भी यही स्थिति है। प्रायः सभी टीकाकार अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार उनके अर्थ करते हैं और फलतः सबके अर्थों का स्वर परस्पर विरोधी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सत्यान्वेषण में हम अपनी प्रज्ञा को महापुरुषों के चिन्तन का सहयात्री नहीं बनाते, बल्कि अपनी कल्पित धारणा के साथ महापुरुषों को जोड़ लेने का दुराग्रह मन में पाल लेते हैं। परन्तु हर विचार-वान प्रबुद्ध मनीषी की चेतना को यह सोचना चाहिए कि सत्य मान्यताग्रस्त

पंथों में नहीं है। पंथों के संकीर्ण घेरे में तो महापुरुषों का सत्य तिरोहित हो गया है, धूमिल पड़ गया है।

इसीलिए सत्य के साक्षात् द्रष्टा भगवान् महावीर ने कहा है—कि सम्यक्त्व आत्मा की अनुभूति है। उस पर किसी पन्थ का एकाधिकार नहीं है। वह स्वयं में स्वयं का बोध है। वह सत्य दर्शन की एक ज्योतिर्मय चेतना है, जो दर्शन-मोह के आवरण के नीचे दब गयी है। जिस वक्त मनुष्य मोहावरण से मुक्त होगा, उसी वक्त परम ज्योति से उसका साक्षात्कार हो जायेगा। सम्यक्त्व के लिए शास्त्र-आलोकित बहुत बड़े ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को जानना आवश्यक नहीं है, संसार के जटिल रहस्यों में उलझने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता तो अपने अन्तर्जगत की खोज की है, अविद्या के आवरणों को छिन्न-भिन्न करने की है, और अपनी दृष्टि को सत्योन्मुखी विशुद्ध भावना से परिपूरित करने की है। दृष्टि की मलिनता को समाप्त करने की है। मूलतः दृष्टि की मलिनता के समाप्त होते ही सत्य की, स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। अपने यथार्थ स्वरूप को निश्चयतः जानना ही सम्यक्त्व है। यहाँ किसी प्रकार की सौदेबाजी नहीं चल सकती। यह स्वानुभूति है। संसार की सारी उपलब्धियों को हासिल कर लेने के बाद भी अगर साधक अपने यथार्थ स्वरूप से परिचित नहीं हुआ, तो सब व्यर्थ है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

"दर्शनमात्मविनिश्चितिर्—
आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं,
कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥"

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है। यह अध्यात्म दृष्टि ही बन्धन-मुक्ति का शुद्ध एवं सम्यक् साधना पथ है। इसी की प्राप्ति जीवन का महत् उद्देश्य है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, एवं सम्यक्-चारित्र का यह साधना-पथ किसी भी वाह्य विधि-निषेध की परिधि में आबद्ध नहीं है। यह आत्मभाव की निर्मलता का सर्वोच्च शिखर है। यहाँ किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक मान्यतावाद, शास्त्रवाद तथा क्रियावाद आदि के उत्कृष्टतावाद का अहंकार एवं दम्भ नहीं रहता है। यह तो जीवन की एकमात्र सत्य के प्रति समर्पित साधना है।

आत्म-विनिश्चय दर्शन है, आत्म-परिज्ञान ज्ञान है, आत्मा की आत्मरूप

से आत्मा में लीनता चारित्र है। सर्वत्र आत्मभाव का ही ब्रह्मनाद है। 'पर', पर है, उससे पराङ्मुख होकर 'स्व' में स्व का निश्चय, दर्शन है, स्व में स्व का बोध ज्ञान है, और स्व में स्व की स्थिति ही चारित्र है। जो भी है, वह स्व है। यहाँ राग-द्वेष कैसा, और उसका प्रतिफल बन्ध कैसा? बन्ध नहीं, तो संसार कैसा? अतएव अध्यात्म गुरु अमृतचन्द्र ने अथेति सत्य ही कहा है कि चित्स्वरूप आत्मा का बाह्य भाव से हटकर आत्मस्वरूप में, स्वभाव में स्थिर हो जाना ही सम्यक्चारित्र है। संसार के नाम पर हो, या धर्म के नाम पर, राग-द्वेष के जितने प्रवाह हैं, वे सब के सब स्वभाव से बाहर हैं। बन्ध के हेतु हैं। मुक्ति के साथ उनका दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है, वह एक प्रकार की मृग मरीचिका है। उसका अन्तर से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः वह न सम्यक्-दर्शन है, न सम्यक्-ज्ञान है और न वह वास्तविक चारित्र ही है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्-ज्ञान-मूलक सम्यक्-चारित्र का अर्थ तो आत्म-स्वरूप में रमण करना है।

वीतराग भावना की वृद्धि जहाँ नित्य-निरन्तर हो रही है, विकल्पों एवं राग-द्वेषों में मन जितना ही कम उलझता जा रहा है, वहाँ उतना ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र निर्मल होता है और जब सम्पूर्ण रूप से यह निर्मलता जीवन के अणु-अणु में व्याप जाती है, तब निरावरणता का वह अनिर्वचनीय अनन्त प्रकाश आविर्भूत होता है, जिसके होते ही 'जिनत्व' की प्राप्ति हो जाती है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में आत्मा की स्वभाव में रमण करने की यह स्थिति ही भव-बंध के समस्त पाशों का नाश करती है, जीव को कल्याण मार्ग पर लाती है। यहाँ बन्ध के हेतु राग-द्वेष रूप आश्रव का अभाव होता है और आश्रवनिरोध रूप संवर की स्थिति उत्पन्न होती है। संवर की स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह सहन, जप तप चारित्र की साधना का मार्ग है। संवर से आते हुए नये कर्म अवरुद्ध हो जाते हैं। निर्जरा के द्वारा जीव पूर्वबद्ध कर्मों के बन्धन से क्रमिक मुक्त होता जाता है। निर्जरा की क्रमिक यात्रा के पश्चात् अन्ततः पूर्ण मोक्षावस्था आती है। मुक्ति के ये वे आयाम हैं, जहाँ सर्वप्रथम तत्त्व के प्रति जीव को श्रद्धा अर्थात् सत्यनिष्ठा होती है और यहीं से सम्यक्-ज्ञान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। ज्ञान के सम्यक् होने में एकमात्र हेतु है सम्यक् दर्शन, अर्थात् सम्यक्त्व। सम्यक्-ज्ञान के होने पर ही आत्मा संशय, विमोह और विभ्रम से रहित हो जाता है। ज्ञान की निष्कलुषता ही ज्ञान का सम्यक्त्व है। सम्यक्-

दर्शन और सम्यक्-ज्ञान के आधार पर ही मोह-क्षोभ-रहित, वीतरागभावरूप सम्यक्-चारित्र का आविर्भाव होता है।

उक्त रीत्या सम्यक् स्थिति को प्राप्त दर्शन, ज्ञान और चारित्र अन्तर्जगत् में साधना का पवित्र त्रिवेणी-संगम है। तीनों का तीन रूप में नहीं ; अन्ततः संगम के रूप में तीनों के एकरूप हो जाने में ही अर्हद्भावरूप, परमात्मभावरूप अनन्त परम चैतन्य का, अक्षय, अजर, अमर प्रकाश प्रकट होता है। परन्तु ध्यान रखिए, उक्त अध्यात्म त्रिवेणी संगम की प्रथम धारा सम्यक्त्व है, जिसे दर्शन, दृष्टि. तत्त्वविनिश्चय, आत्मप्रतीति, आत्मानुभूति, श्रद्धा, निष्ठा एवं तत्त्वरुचि आदि अनेक अर्थगर्भित उदात्त नामों से शास्त्रकार तत्त्वदर्शी चिदात्माओं ने अभिहित किया है अतः धर्म-साधना के लिए प्रस्थानबिन्दु के रूप में सर्वप्रथम उसी का विशुद्ध होना परमावश्यक है। दर्शन विशुद्धि ही तीर्थंकरत्व जैसे परम पद का प्रथम हेतु है।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि वृत्तियों का अन्तरंग सत्यनिष्ठा के साथ परिष्कार हो, तदनन्तर सभी रागमूलक शुभाशुभ विभावों से निवृत्त होकर, शुद्ध स्वभाव में रमणता हो। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मनुष्य न कर पाये। बस, इसके लिए एकमात्र सम्यक् संकल्पवान् होने की जरूरत है, श्रद्धा की पावन कलकल निनादिनी को अपने भीतर पूर्णरूपेण आत्मसात् करने की जरूरत है।

यह एक शाश्वत सत्य है कि मनुष्य जब-जब सत्योपलब्धि की ओर प्रवृत्त हुआ है, उसके मन प्राण में अनिर्वचनीय एक दिव्य पुलक समाया है, उसकी चेतना में अमोघ जागरण-मंत्र ध्वनित हुआ है। वह तर्क और भाव की दोनों अवस्थाओं से गतिमान रहा है। श्रद्धा समत्वरूप से इन दोनों का वहन करती रहती है। और सत्योपलब्धि का समुचित मार्ग ज्यों ही अधिकृत होता है, तर्क समाप्त हो जाते हैं, सम्यक्-ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है, और भाव का अमृत सागर हिलोरें मारने लगता है। यही तत्त्व का सम्यक्-दर्शन है, यही यथार्थ की तत्त्व-पुष्टि है और यही है बन्धमुक्ति की यात्रा का प्रस्थान बिन्दु, और चेतना के ऊर्ध्वारोहण का प्रथम सोपान। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अतुल निधि का स्वामी बन पाया है, शाश्वत प्रदेश के गुह्य प्रान्तों का अन्वेषण कर पाया है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" श्रद्धावान को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। आवश्यकता श्रद्धा की ही है। जीवन को

उत्तरोत्तर विकास की दिशा में गतिशील रखने के लिए अन्तर में श्रद्धा का होना नितान्त आवश्यक है। यही वह पथ है, जिस पर चलकर सम्यक् रूपेण स्व-स्वरूप की, सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। इस विभ्रान्तिजन्य काल को चिन्तन के नये आयाम दिये जा सकते हैं। बिखरती मानवता को शाश्वत शांति का मंगल संदेश सुनाया जा सकता है।

यह सम्यक्-ज्ञान ही मनुष्य की अन्तिम अभिलाषा है। यही धर्म है, जिसे धारण कर मनुष्य मनुष्य है। क्योंकि आहार आदि और सारे कार्य तो सभी योनियों में चलते रहते हैं। नीतिकार ने लिखा है—

> आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर् नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन

स्व० छोटेलाल जैन

बंगाल के राजशाही जिले में बदलगाछी थाने के अन्तर्गत और कलकत्ता से १८६ मील उत्तर की ओर जमालगञ्ज स्टेशन से ३ मील पश्चिम की ओर पहाड़पुर है। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर के ध्वंसावशेष ८१ बीघों में हैं जिनके चारों ओर इष्टक निर्मित प्राचीर हैं। इनके मध्य का टीला बहुत बड़ा होने से गाँव वाले इसे 'पहाड़' के नाम से पुकारने लगे और इसीसे यह स्थान पाहाड़पुर कहा जाने लगा।

इसके निकट नदीतल के चिह्न उपलब्ध हुए हैं, इससे प्रकट होता है कि यहाँ पहले नदी बहती थी। इसके ध्वंस का एक कारण बाढ़ है, क्योंकि इसकी शून्य वेदियाँ और अन्य व्यवहार्य सामग्री की अनुपलब्धि यह प्रमाणित करती है कि यह स्थान एकाएक परित्यक्त नहीं हुआ था। दूसरा कारण १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब मुसलमानों ने बंगाल पर आक्रमण किया तब अन्य अनेक हिन्दू मठ-मन्दिरों के साथ-साथ इसका भी ध्वंस किया जाना है।

इस टीले में सबसे प्राचीन ध्वंसावशेष गुप्ताब्द १५६ का एक ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँ से उपलब्ध विभिन्न सामग्री की परीक्षा और मनोभिनिवेश से यह ज्ञात होता है कि एक समय पाहाड़पुर जैन, ब्राह्मण और बौद्ध—इन तीनों महान् धर्मों का उन्नतिवर्द्धक केन्द्र था। इसलिए अविच्छिन्न और धारावाहिक यात्रियों का दल पाहाड़पुर के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करता था और भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से इस पवित्र स्थान पर अनेक छात्र विद्याध्ययन के लिए आते थे। यों तो यह स्थान बहुत प्राचीन था, पर पञ्चम शताब्दी के पूर्वार्द्ध से दशम शताब्दी तक इसकी प्रख्याति अतिशय रूप से थी।

यहाँ से उपलब्ध लेखों (ताम्रशासन और मृण्मय मुद्रिका समूह (sealings) से भिन्न-भिन्न दो समय के दो विहारों के अस्तित्व की सूचना मिलती है।

इस गुप्ताब्द १५६ (सन् ४७८-७६) के ताम्र शासन में वटगोहाली ग्रामस्थ श्री गुहनन्दी के एक जैन विहार का उल्लेख है। इसमें पौण्ड्रवर्द्धन के विभिन्न ग्रामों में भूमि क्रय कर एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा वटगोहाली के जैन विहार के लिए दान किया जाना लिपिवद्ध किया गया है। पाहाड़पुर से संलग्न पश्चिम की ओर अवस्थित यह वटगोहाली वर्त्तमान का गोआलभीटा

ग्राम है और इस ग्राम में मन्दिर की सीमा का कुछ अंश अवस्थित है।

सन् १८०७ में डाक्टर बुकानन हैमिल्टन को यह टीला (जिसके अन्दर से यह मन्दिर निकला है) "गोआलभीटा का पहाड़" के नाम से बताया गया था। इस लेख में उल्लिखित वटगोहाली का जैन विहार निश्चय से पाहाड़पुर के इस मन्दिर के मूल स्थान पर अवस्थित था और वटगोहाली से ही गोआल-भीटा हो गया मालूम होता है।

ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी में उत्तर बंग मौर्यों के शासनाधिकार में था और पुण्ड्रवर्द्धन नगर में उनका प्रान्तीय शासक रहता था। गुप्तकाल में भी बंगाल के इस प्रान्त की राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन थी। आजकल जो स्थान महा-स्थान के नाम से प्रसिद्ध है, उसे ही प्राचीनकाल में पौण्ड्रवर्द्धन कहते थे। पाहाड़पुर, महास्थान से उत्तर-पश्चिम की ओर २९ मील पर और बानगढ़ (प्राचीन कोटिवर्ष) से दक्षिण-पूर्व की ओर ३० मील पर अवस्थित है। इन दोनों प्रधान नगरों के निकट इस मन्दिर को स्थापित करने का आशय यह था कि त्यागीगण नगरों से बाहर एकान्त में रह कर शान्ति से धर्मलाभ के साथ-साथ विद्याध्ययन करें और नगरनिवासियों को भी धर्मोपदेश का लाभ मिलता रहे। दूसरे, उस समय पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष जैनाचार्यों के प्रधान पट्टस्थान भी थे। उस समय वहाँ जैनों का ही पूर्ण प्राधान्य था।

गुप्त साम्राज्य के प्रभुत्वकाल में भी यद्यपि यहाँ जैनों की ही प्रधानता रही, पर साथ-साथ ब्राह्मण-प्रभाव भी धीरे-धीरे बढ़ता रहा; किन्तु बौद्धों का प्रभाव यहाँ बहुत ही कम था। इसका अनुमान चीनी यात्री के वर्णन से भली-भाँति हो जाता है। तो भी उस युग में यहाँ का वातावरण पूर्णतः सहिष्णुता का था, कारण यहाँ जैन, बौद्ध और हिन्दू—तीनों ही सम्प्रदायों की प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है।

षष्ठ शताब्दी के किसी समय में इस मन्दिर के वृद्धिकरण की आयोजना प्रारम्भ की गयी थी और अट्टालिकाओं की ऊँचाई को बहुत बढ़ाया गया जिससे सम्भवतः मध्य स्थित प्राचीन अट्टालिका आच्छादित हो गई।

छठी शती से गुप्तों का प्रभाव क्षीण होता गया और सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल में महाराजा शशांक का आधिपत्य हो गया। शशांक शैव धर्मावलम्बी था। उसने जैन और बौद्धों को बहुत ही सताया था। तो भी जैनों के पाँव यहाँ से नहीं उखड़े। तत्पश्चात् सप्तम शताब्दी में ही जब बंगाल

में अराजकता का बोलबाला हुआ, तब धीरे-धीरे यहाँ से जैन धर्म विलीन होता गया। वटगोहाली का यह श्री गुहनन्दी जैन विहार भी पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष की जैन संस्थाओं की भाँति क्षतिग्रस्त हुआ। पुनः यहाँ जब शान्ति हुई और पाल राज्य सुदृढ़ता से अष्टम शताब्दी में सुस्थापित हुआ उस समय यह स्थान सोमपुर[१] के नाम से प्रख्यात हो चुका था।

पाल नृपतियों का अधिकार ३५० वर्ष तक रहा। पाल राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। इनके समय में यहाँ जैनों की प्रधानता नष्ट हो गई और बौद्धों के प्रभाव ने जोर पकड़ा और इस जैन विहार पर उनका पूर्ण अधिकार हो गया।

ईसा की अष्टम शताब्दी के शेष भाग में अथवा नवम शताब्दी के प्रारम्भ में पाल वंश के द्वितीय सम्राट महाराज धर्मपाल ने इसी विहार के ऊपर महाविहार निर्माण किया था, तब से यह स्थल धर्मपाल देव का "सोमपुर का महाबौद्ध विहार" के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस विहार की प्रख्याति सर्वत्र हो गई और यहीं दीपंकर नामक प्रसिद्ध बौद्धाचार्य ने भवविवेक के मध्यमक रत्नप्रदीप का अनुवाद किया था। दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी काल की भी इमारतें इस पर हैं।

पाहाड़पुर के इस परकालीन बौद्ध मन्दिर से नगण्य जैन ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं; पर ब्राह्मण और बौद्धों के परवर्ती गुप्तकाल के अनेक शिला पर अल्प-उत्तोलित-भास्कर कार्य (basreliefs) और दग्ध मृण्मय पटरियाँ (plaques, terra-cottas) प्राप्त हुई हैं, जिनमें अनेक पंचतन्त्रादिक कथा-साहित्य के प्राचीन उपाख्यानों को सूचित करने वाले चित्र भी हैं। ऐसे जनसाधारण के पूज्य स्थान जहाँ पर सभी सम्प्रदायों के लोग एकत्रित होते हों, वहाँ ऐसे चित्रों को सजाने के काम में लाना अत्यावश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इससे प्रकट होता है कि इनमें देवमूर्तियाँ हैं और वे खास पूजन की दृष्टि से नहीं लगाई गई हैं।[२] किसी समय विद्वेषवश जैन-सामग्री यहाँ से अवश्य पृथक कर दी गई है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग जो खृष्टीय सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पौण्ड्रवर्द्धन

---

१ पाहाड़पुर से दक्षिण की ओर एक मील पर अब सोमपुर ग्राम है, वही सोमपुर था।

२ Memoirs of A. S. I., no 55, p. 58

में आया था, वहाँ का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ एक सौ देव मन्दिर है। पर यहाँ नग्न-निर्ग्रन्थ सबसे अधिक हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो यह विहार निश्चय से जैन भिक्षुओं को आकर्षित करता रहा है। और उस समय इस स्थान पर बौद्ध मठादि नहीं थे।[३] हो सकता है कि अष्टम शताब्दी के लगभग कुछ काल पर्यन्त ब्राह्मणों का भी इस मन्दिर पर आधिपत्य रहा हो। तत्पश्चात् बौद्धों ने इस पर नूतन विहार और मठ निर्माण कर इसे अपना लिया और शेष तक उनका अधिकार यहाँ रहा, यह ऊपर पाल वंश के वर्णन में बताया जा चुका है।

चीनी परिव्राजक के आगमन से १५० वर्ष पूर्व का यह ताम्र शासन जैनों के प्रभाव का केवल समर्थन ही नहीं करता है किन्तु यहाँ तक प्रमाणित करता है कि यह विहार अति प्राचीन है और इसमें धारावाह गुरु शिष्यों की परम्परा चली आई है। आचार्य भद्रबाहु तथा उनके शिष्य गुप्तिगुप्त (विशाखाचार्य अर्हद्बलि) आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यों का पट्ट-स्थान पुण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष में था। पुण्ड्रवर्द्धन के पट्टाचार्य मुनिसंघ का निग्रह-अनुग्रह पूर्वक शासन करते थे और पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन क्षेत्र में निवास करने वाले मुनियों के समूह को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे।[४] गुहनन्दी भी सम्भवतः भद्रबाहु की परम्परा के आचार्य मालूम होते हैं, आचार्यों के नंद्यांत नाम प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होते हैं। अर्हद्बलि आचार्य ने नन्दी और पंच-स्तूपान्वय स्थापित किया था। नन्दी वृक्ष के मूल से वर्षा योग धारण करने से नन्दी संघ हुआ। इसके प्रथमाचार्य श्री माघनन्दी थे। तृतीय और चतुर्थ शताब्दी के नन्द्यान्त नामों में यशोनन्दी, जयनन्दी, कुमारनन्दी आदि हैं।

विहार

सोमपुर (पाहाड़पुर) के इस विहार को वृहदाकार और उन्नत वर्तमान अवस्था में पहुँचाने का श्रेय बौद्धधर्मपरायण प्रारम्भ के पाँच सम्राटों को है। इसके चारों ओर प्रायः दो सौ कमरे हैं। इसके अट्टालिका परिवेष्टित प्रांगण ९२२ × ९१९ फुट हैं। भारतवर्ष में इतना बड़ा मठ कहीं भी नहीं मिला है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण ३६१ फुट और चौड़ाई ३१९ फुट

---

३ Beal's Buddhist Records of the Western World, vol. II, p. 195, (Memoirs of A. S. I., no 55, p. 3)

४ श्रुतावतार कथा, श्लोक ८०-८७

है। मन्दिर के तीन खण्ड (terraces) हैं और पहिले और दूसरे खण्डों में चैत्यांगन (प्रदक्षिणा मार्ग) है।

जिस प्रकार के नक्शे पर यह मूल मन्दिर निर्मित हुआ था, उस प्रकार का अन्य उदाहरण अभी तक भारतीय पुरातत्व को उपलब्ध नहीं हुआ है और न प्राचीन बौद्ध स्तूपों से इसका विकास ही माना जा सकता है। अतएव यही सम्भव है कि इस स्थल पर ही या इसके अति निकट जैनों का एक चतुर्मुख मन्दिर था। इसकी पुष्टि यहाँ से उपलब्ध इस ताम्रशासन से भी होती है।[५]

भारतीय पुरातत्व विभाग के प्रसिद्ध प्रत्नतत्त्वविद श्रीयुत पं॰ काशीनाथ नारायण दीक्षित ने लिखा है[६] कि कुशान कालीन मथुरा के जैन स्तूप (कंकाली टीला) के अतिरिक्त उत्तर भारत में मध्यकाल से पूर्व एक भी जैन अट्टालिका अभी तक नहीं मिली है। पाहाड़पुर का परवर्ती गुप्तकालीन मन्दिर और प्रारम्भिक पालकालीन विहार को मूल जैन मन्दिर का प्रसारण और वृद्धिकरण स्वरूप मान लेने से अनुमान होता है कि इस चार प्रवेश द्वार-युक्त चतुष्कोण मन्दिर की वेदी चतुर्मुख थी जिसमें अर्हतों की चार मूर्तियाँ थीं और सम्भवतः मन्दिर से कुछ ही दूरी पर श्रमणों या जैन मुनियों के लिए एक मठ था। चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों का होना जैनों में भिन्न-भिन्न काल और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित था। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ फरगुसन साहब ने तो चतुर्मुख मन्दिरों को प्रधान जैन श्रेणी का कहा है।[७] चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों की उत्पत्ति समवशरण से है। ऐसे उत्तरकालीन जैन-मन्दिर अभी तक कई स्थानों में उपलब्ध हैं।

पहाड़पुर के इस विहार से जैन ताम्रशासन के अतिरिक्त केवल एक छोटी-सी जिन मूर्ति (धातु की) उपलब्ध हुई है जिसके उभय पक्ष में दो अस्पष्ट मूर्तियाँ यक्षों या श्रावकों की हैं। अर्हन्त भगवान एक कमलासन पर खड्गासन से स्थित हैं। यह प्रतिमा गुप्तकालीन मालूम होती है।

अब महत्वपूर्ण आलोच्य ताम्र शासन[८] का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

पाहाड़पुर के प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर की खुदाई करते समय सन् १९२७ में

---

५ Memoirs of A. S. I., no 55, p. 7

६ Archaeological Survey of India Report, 1927-28, p. 28

७ History of India, vol. II, Eastern Architecture, p. 25

८ Epigraphia Indica, vol. XX, pp. 59-64

पुरातत्व विभाग के पं० काशीनाथ नारायण दीक्षित को गुप्त संवत् १५६ (सन् ४७६) का यह ताम्र पत्र मिला था। प्रधान मन्दिर के दूसरे खण्ड (terrace) की प्रदक्षिणा के उत्तर पूर्व के मार्ग की मृत्तिका और भग्न इष्टक राशि अपसारण करते समय यह ताम्रपत्र आविष्कृत हुआ था। इसकी प्राप्ति अवस्था सूचित करती है कि इस विहार की अन्तिमावस्था पर्य्यन्त वहाँ दफ्तर (Archives) में यह सुरक्षित था।

इसकी कतिपय पंक्तियाँ और अक्षर घिस गये हैं तथा मजदूरों की असावधानी से भी ऊपर के दक्षिण कोने में एक छिद्र हो गया है। तो भी इस ताम्रपत्र की अवस्था अच्छी है। इसका नाप ७$\frac{1}{4}$ × ४$\frac{1}{2}$ इंच है और इसका वजन २६ तोला है।

इसकी लिपि उत्तरीय पंचम शताब्दी की है। भाषा संस्कृत है। अन्त के पाँच अमंगल प्रार्थी पद्यों के अतिरिक्त सारा लेख गद्य में है।

पाहाड़पुर का ताम्रशासन, गुप्ताब्द १५६ (सन् ४७६)

अग्रभाग

१ स्वस्ति (॥) पुण्ड्र [वर्द्ध] नाद = आयुक्तकः[९] आर्य्य-नगरश्रेष्ठि—पुरोगश्च = आधिष्ठान्—आधिकरणम् दक्षिणांशक—वीथेय—नागिरट्ट—

२ माण्डलिक—पलाशाट्ट—पार्श्विक—वट—गोहाली—जम्बुदेव— प्रावेश्य—पृष्ठिम—पोत्तक—गोषा—टयुञ्जक—मूल नागिरट्ट—प्रावेश्य—

३ नित्व-गोहालीषु ब्राह्मण्—ओत्तरान् = महत्तर—आदि—कुडम्बिनः कुशलम्—अनुवराण्यं = आनुबोधयन्ति (।) विज्ञापयत्य् = अस्मान् = ब्राह्मण—नाथ—

४ शर्म्मा एतद्—भार्य्या रामी च (।) युष्माकम् इह् = आधिष्ठान्—आधिकरणे द्वि-दीनारिक्कय—कुल्यवापेन शश्वत—काल्—ओपभोग्य—आक्षय—नीवी—समुदय—बाह्य—आ

५ प्रतिकर—खिल - क्षेत्र - वास्तु — विक्कयो = नुवृत्तस् = तद् = अर्हथ् = आनेन् = ऐव वक्रमेण् = आवयोस् = सकाशाद् = दीनार = त्रयम् = उपसंगृह्य् = आवयो (स) = स्व—पुण्य्—आप्या—

६ यनाय वट—गोहाल्याम् = अव[१०] = आस्यां = काशिक—पञ्चस्तूप—

---

९ ताम्रपत्र में युक्तका अर्थ है दो से अधिक आयुक्तक थे।

१० एव् पाठ पढ़ें। H. Shastri connects the name with नव्यावकाशिकाः।

निकायिक[११] —निग्रन्थ — श्रमण्—आचार्य्य—गुहनन्दि — शिष्य—प्रशिष्य्—आधिष्ठित—विहारे

७ भगवताम्—अर्हताम —गन्ध—धूप—सुमनो—दीप्—आद्य् — अर्थन् = तल—वाटक—निमित्तञ्—च अ (त) एव वट-गोहालीतो वास्तु—द्रोणवापम्—अध्यर्द्धान् = ज—

८ म्बुदेव—प्रावेश्य—पृष्ठिम = पोत्तकेत्[१२] क्षेत्र द्रोण—वाप—चतुष्टयम गोषा—टपुञ्जाद् = द्रोणवाप—चतुष्टयम् मूल नागिरट्ट—

९ प्रावेश्या—नित्व—गोहालीतः अर्द्ध—त्रिक—द्रोणवापान् = इत्यं्=एवम्= अध्यर्द्धम क्षेत्र—कुल्यवापम्=अक्षय—नीव्या दातुम्=इ (त्य्=अत्र) यतः प्रथम—

१० पुस्तपाल—दिवाकरनन्दि—पुस्तपाल—धृतिविष्णु—विरोचन-रामदास—हरिदास—शशिनन्दि—षु प्रथमनु[१३]......(ना) म् अवधारण[१४]—

११ य=आवधृतम् अस्त्य् = अस्मद् अधिष्ठान्—आधिकरणे द्वि-दीनारिक्क्य-कुल्यवापेन शश्वत् काल्-ओपभोग्य्-आक्षय—नीवी—समु (दय-वा) ह्य-आप्रतिकर—

१२ (खिल)—क्षेत्र—वास्तु—विक्कयो = नुवृत्तस्=तद=यद=युष्माम्[१५]= ब्राह्मण—नाथ—शर्म्मा एतद् भार्य्या रामी च पलाशाट्ट—पार्श्विक—वट—गोहालीस्थ (?)[१६]—य

---

११ १३वीं पंक्ति में पञ्चस्तूप—कुल—निकायिक है। अस्तु, यहाँ भी इसी अर्थ का द्योतक है। यहाँ पाँच निकायों का आशय नहीं है किन्तु यहाँ निकाय का अर्थ (जैनाचार्यों की) शाखा है। पंच-स्तूप किसी स्थान का नाम होना चाहिये। श्रुतावतार कथा में सेन संघकी उत्पत्ति इस प्रकार है कि जो मुनि पंच-स्तूपों में से आये वे सेन संघ के नामधारी हुए।

१२ इसमें त् अधिक है।

१३ इसके बाद कई अक्षर नष्ट हो गए हैं।

१४ दामोदरपुर के शासन से मालूम होता है कि अवधारणया के पहिले पुस्तपालों के नाम थे।

१५ युष्मान् पढ़िये।

१६ ऊपर की छठी पंक्ति से मिलान करें।

पृष्ठ भाग

१३ (काशि)···क—पंच-स्तूप—कुल—निकायिक—आचार्य्य— निग्रन्थ—गुहनन्दि—शिष्य—प्रशिष्य्—आधिष्ठित—सद्—विहारे अरहताम्[१७] गन्ध-(धूप्)-आद्य्—उपयोगाय

१४ (तल-व्) आटक-निमिताञ्—च तत्र्—ऐव वट-गोहाल्यां वास्तु-द्रोण-वापम्=अध्य-र्द्धं क्षेत्राञ्=जम्बुदेव—प्रावेश्य=पृष्ठिम—पोत्तके द्रोण-वाप—चतुष्टयं

१५ गोषाटपुञ्जाद्=द्रोणवाप—चतुष्टयं मूल—नागिरट्ट—प्रावेश्य—नित्व—गोहालीतो द्रो-णवाप—द्वयम्=आढवा (प-द्ध) य्—आधिकम्=इत्य्=एवम्=अ-

१६ ध्यर्द्ध क्षेत्र-कुल्यवापम् प्रार्थदते=ञ न कश्चिद्=विरोधः गुणस्=तु यत=परम-भट्टारक-पादानाम् = अर्थं = ओपचयो धर्म्म-षड्—भाग्—आप्याय—

१७ नञ्—च भवति तद—एवन्=क्रियताम=इत्य=अनेन्=आवधारना+क्रमेण—आस्माद्—ब्राह्मण—नाथ—शर्म्मत एतद्—भार्य्या—रामि-याश—च दीनार—त्र

१८ यम्=आर्यीकृत्य=ऐताभ्यां विज्ञापितक—क्रम—ओपयोगाय्=ओपरि-निर्द्दिष्ट=ग्राम—गोहालि—केषः तल-वाटव—वास्तुना सहक्षेत्रं

१९ कुल्यवाप अध्यर्द्धो=क्षय—नीवी—धर्मेण दत्तःकु १ द्रो ४ (।) तद्=युष्माभिः स्व-कर्म्मण्[१८]—आविरोधिस्थाने षट्क—नडैर्=अप—

२० विञ्च्छ्य दातव्यो=क्षय-नीवी—धर्मेण च शश्वद्=आचन्द्र—आर्क्क-तारक—कालम्=अनु-पालयितव्य इति (।) सन् १०० ५० ९

२१ माघ दि ७ (।) उक्तञ—च भगवता व्यासेन (।) स्व-दत्तां पर-दत्तां वा यो हरते वसुन्धराम् ।

२२ स विष्ठायां क्रिमिर[१९]=भूत्वा पितृमिस्=सह पच्यते (।।) षष्टि—वर्ष—सहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिदः (।)

२३ आक्षेप्ता च=आनुमन्ता च तान्य्=एव नरके वसेत (।।=) राजभिर्=व्वहु—भिर्=दत्ता दीयते च पुनः पुनः (।) यस्य यस्य

---

[१७] अर्हताम् पढ़िये ।

[१८] स्व-कर्षणा विरोधी स्थाने

[१९] कृमिर पढ़िये ।

२४ यदा भूमि[२०] तस्य तस्य तदा फलम् (।।) पूर्व-दतां द्विजातिभ्यो यद्राद्=रक्ष युधिष्ठिर (।) महीम्=महिमताम् श्रेष्ठ

२५ दानाच=छ्रेयो नुपालनं (।।) विन्ध्य=आटविष्व्=अनम्बुषु शुष्क—कोटर—वासिन (ः ।) कृष्ण्=आहिनो, हि जायन्ते देव-दायं हरन्ति ये (।।)

लेख का सारांश

नाथ शर्मा नामक ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी रामी ने पुण्ड्रवर्द्धन के आयुक्तक (district-officer) जिला अफसर और नगर श्रेष्ठी (mayor) के निकट जा निवेदन किया कि स्थानीय प्रचलित रीत्यानुसार उनको दक्षिणांशक वीथी और नागिरट्ट मण्डल में अवस्थित चार विभिन्न ग्रामों की १ई कुल्यवाप भूमि के मूल्यस्वरूप तीन दीनार अधिष्ठान अधिकरण (city council) में जमा करा देने की अनुमति दी जाय। क्योंकि वटगोहाली के विहार के अर्हन्तों की पूजा के प्रयोजनीय चन्दन, धूप, पुष्प, दीप आदि के निर्वाहार्थ तथा निर्ग्रंथाचार्य गुहनन्दि के विहार में एक विश्राम स्थान निर्माण कराने के लिये यह भूमि सदा के लिए दान दी जायगी। इस विहार के अधिष्ठाता बनारस के पञ्चस्तूप निकाय संघ के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य प्रशिष्य हैं।

भूमि परिमाण

पृष्ठिम-पोत्तक, गोबाटपुञ्जक और नित्वगोहाली ग्रामों में क्रमानुसार ४, ४ और २ई द्रोणवाप परिमाण क्षेत्र और वाटगोहाली की १ई द्रोणवाप परिमाण आवास भूमि।

(अधिष्ठान आधिकरण) सभाने प्रथम, पुस्तपाल (record-keeper) दिवाकर नन्दि से परामर्श किया। पुस्तपाल ने बताया कि इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं है। दूसरे राजकोष में कुछ आय-प्राप्ति के अतिरिक्त इस दान से जो पुण्य होगा उसका षष्ठांश पुण्य महाराज को प्राप्त होगा, अस्तु। सभा ने ब्राह्मण दम्पति के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भूमि हस्तान्तर को लिपिबद्ध किया।

विभिन्न ग्रामों के (जहाँ ये क्षेत्र थे) प्रधानों को सभा ने क्षेत्रों की चौहद्दी निर्देश करने के लिए कहा।

---

२० भुमिस् पढ़िये।

इसकी तिथि माघ कृष्णा ७ गुप्ताब्द १५६ (सन् ४७६) है। अन्त में प्रचलित अमंगल प्रार्थी पद्य है।

इस ताम्रशासन से बंगाल के उस प्रान्त में प्राचीन काल में भूमि क्रय और दान करने के लिए किस प्रकार की कार्यप्रणाली का उपयोग होता था, इसका परिचय भलीभाँति हो जाता है।

इच्छुक दानकर्त्ता आयुक्तक (district-officer) और अधिष्ठान आधिकरण (city-council) के मुखिया नगर श्रेष्ठी (mayor) के निकट गये और निर्धारित मूल्य पर दान के लिए भूमि बिक्री करने के लिए निवेदन किया। इस पर आयुक्तक और अधिष्ठान आधिकरण ने जिज्ञास्य विषय को मीमांसार्थ (जांच-पड़ताल के लिए) पुस्तपाल[21] (record-keeper) के हाथ में अर्पण कर दिया। पुस्तपाल ने आवश्यक अनुसन्धान कर (transaction) सौदे के पक्ष में अनुमति देते हुए अपनी विवृति (report) पेश कर दी। तत्पश्चात् शासनकर्तृवर्ग ने प्रार्थी से आवश्यक मूल्य वसूल कर लिया और उन गाँव के मुखिया और अन्य गृहस्थों को सूचना दे दी कि भूमि को माप कर प्रार्थी को दे देवें।

इस दानपत्र मे भूमि माप का परिमाण धान्य (बीज) के अनुसार है अर्थात् कुल्यवाप। १ कुल्यवाप = ८ द्रोण = ३२ आढक = १२८ प्रस्थ। कुल्यवाप का आशय उतनी भूमि से है जितनी एक कुल्य धान्य (बीज) से बोई जाय। इस दानपत्र में द्रोणवाप और आढ़वाप भूमिमाप भी है।

दानपत्र में समय सं० १५६ माघ दी० ७ लिखा है। यह संवत् सम्भवतः गुप्ताब्द है। जिस समय का यह दानपत्र है, उस समय बंगाल में गुप्ताब्द प्रचलित था। तदनुसार गणना करने से जनवरी सन् ४७६ का यह लेख है।

दानपत्र की सोलहवीं पंक्ति में परम भट्टारक शब्द उस नृपति से सम्बन्ध रखता है जिसके शासनकाल का यह दानपत्र है। पर इसमें उस नृपति का नाम नहीं है। दामोदरपुर[22] के दानपत्रों से विदित है कि इस समय बुद्धगुप्त के राज्यान्तर्गत पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति थी। अस्तु, बहुत सम्भव है कि इस दानपत्र के निरुल्लिखित नृपति बुद्धगुप्त ही थे। उनका राज्यकाल सन् ४७६ से ४६५ था।

पंच स्तुपान्वय

इस ताम्रशासन की छठी और १३ वीं पंक्तियों में "काशीक पंचस्तु-

---

[21] एक पुस्तपाल प्रधान होता था और उसके अधीन कई पुस्तपाल होते थे।

[22] Epigraphia Indica, vol, XV, pp. 113-45.

पान्वय" का उल्लेख हुआ है। जैन संघों के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अभी तक सन्तोषपूर्ण नहीं हुआ है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि इस पंचस्तूपान्वय के संस्थापक पौण्ड्रवर्द्धन के श्री अर्हद्बल्याचार्य थे। आप अपने समय के बड़े भारी संघनायक थे।

एक बार युग प्रतिक्रमण के समय उन्हें यह ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का जमाना आ गया है। उन्होंने यह विचार किया कि मुनियों में एकत्व की भावना बढ़ाने से ही लाभ होगा। अतः आचार्यश्री ने नन्दि, वीर, देव, अपराजित, सेन, भद्र, पंचस्तूप, गुप्त, गुणधर, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये।[२३] अर्हद्बलि का समय वीर निर्वाण सं० ७१३ के लगभग पं० जुगलकिशोरजी ने लिखा है[२४] किन्तु नन्दि संघ की पट्टावली के अनुसार उनका समय वीर निर्वाण सं० ५९३ वर्ष होता है।[२३]

---

२३ श्रुतावतार (मा० ग्रं० नं० १३)

२४ स्वामी समन्तभद्र, पृ० १६१

२५ भास्कर, भाग १ किरण ४

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

जनकराजा भी दशरथ की तरह योगी वेष धारण कर अरण्य में चले गए। उनके मंत्रियों ने भी जनक की लेप्यमय मूर्ति बनवाकर प्रासाद के एक अन्धकारमय स्थान में रखवा दी। दशरथ और जनक गुप्त रूप में पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

क्रुद्ध विभीषण अयोध्या आया और अन्धकार में रखी लेप्य मूर्ति का मस्तक खड़्ग से काट डाला। इस घटना ने सारे नगर में कोलाहल मचा दिया और अन्तःपुर में चारों ओर रोना-धोना मच गया। अंग रक्षको सहित सामन्त राजगण वहाँ उपस्थित हुए और मन्त्रविद् मन्त्रियों ने राजा की सब प्रकार से अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

दशरथ मर गया समझ कर विभीषण जनक को बिना मारे ही लंका लौट गया। सोचा, अकेला राजा जनक क्या कर सकता है।

मिथिला और इक्ष्वाकु वंश के राजा जनक और दशरथ समान स्थिति में पड़ जाने से मित्र बन गए और साथ-साथ भ्रमण करने लगे। पर्यटन करते हुए वे उत्तरापथ में गए। वहाँ कौतुकमंगल नगर के राजा की शुभमति रानी से उत्पन्न द्रोणमेघ की बहिन बहत्तर कलाओं में निपुणा कैकेयी के स्वयंवर की बात सुनी। यह सुनकर वे भी कौतुकमंगल नगर जाकर स्वयंवर सभा में जहाँ हरिवाहन आदि राजा बैठे थे उनमें कमल के मध्य हंस की तरह बैठ गए।

कन्या-रत्न कैकेयी रत्नालंकारों से विभूषित होकर साक्षात् लक्ष्मी की तरह सभा-भवन में आयी। प्रतिहारिणी के हाथों का सहारा लिए प्रत्येक राजा को देखती हुयी जिस प्रकार चन्द्रलेखा नक्षत्रों का अतिक्रमण करती है उसी प्रकार अनेक राजाओं को वह अतिक्रमण कर गयी। अनुक्रम-से गंगा जैसे समुद्र के निकट जाती है उसी प्रकार वह भी राजा दशरथ के पास जाकर लंगर डाली हुयी नौका की तरह खड़ी हो गयी। उसकी देह रोमांचित हो गयी अतः प्रसन्नता के साथ अपनी भुजाओं-सी वर माला को दशरथ के गले में डाल दी।

हरिवाहन आदि राजा इसे अपना अपमान समझ कर क्रोध में प्रज्ज्वलित होकर कहने लगे—'जीर्ण-शीर्ण कपड़े पहने इस एकाकी भिक्षुक को कैकेयी ने

अपना पति चुना है। किन्तु हम यदि उसका अपहरण करें तो देखते हैं वह किस प्रकार कैकेयी की रक्षा करेगा।'

इस प्रकार कहते हुए क्रुद्ध बने वे अपनी-अपनी छावनी में गए और अस्त्र धारण कर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गए। राजा शुभमति ने दशरथ का पक्ष लिया और उत्साह पूर्वक अपनी चतुरंगिनी सेना तैयार करवायी। उस समय एकाकी दशरथ ने कैकेयी से कहा, 'प्रिये, तुम यदि मेरा सारथ्य करो तो मैं इन शत्रुओं को विनष्ट कर डालूँ।'

यह सुनकर कैकेयी ने एक वृहद् रथ पर चढ़कर अश्व की वल्गा अपने हाथों में ले ली। कारण वह बुद्धिमती तो थी ही साथ ही बहत्तर कलाओं में भी निपुण थी। तब दशरथ ने भी कवच धारण कर पीठ में तुणीर कसा और हाथ में धनुष लेकर रथ पर चढ़ गए। यद्यपि उस समय वे अकेले ही थे, फिर भी शत्रुओं को तृणवत् समझा। चतुर कैकेयी हरिवाहन आदि समस्त राजाओं के सम्मुख समयानुसार सवेग उस रथ को ले जाने लगी और अखण्ड पराक्रमी दशरथ द्वितीय आखंडल की तरह एक-एक कर शत्रुओं का रथ खण्डित करने लगे। इस प्रकार समस्त राजाओं को पराजित कर दशरथ ने द्वितीय पृथ्वी-सी कैकेयी से विवाह किया। दशरथ ने अपनी नवपरिणीता से कहा, 'देवी, तुम्हारे सारथ्य से मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ अतः तुम कोई वर माँग लो।' कैकेयी बोली, 'स्वामी, समय आने पर मैं वह वर आप से माँगूगी। अभी वह आपके ही पास धरोहर की तरह रक्षित रहे।' राजा दशरथ ने यह स्वीकार कर लिया।

दशरथ ने शत्रुओं से जिस सेना को जीता था उस सेना और श्री जैसी कैकेयी सहित राजगृह नगर में गए और जनक अपनी राजधानी मिथिला लौट गए। समयज्ञ ही बुद्धिमान होते हैं। वे जहाँ-तहाँ जैसे तैसे रूप में नहीं रहते।

राजा दशरथ मगध जीतकर राजगृह में ही रहने लगे, रावण के भय से अयोध्या नहीं लौटे। अपराजिता आदि रानियों को राजगृह में ही बुलवा लिया। पराक्रमी पुरुषों का राज्य सर्वत्र ही होता है। अपनी रानियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बहुत दिनों तक वे राजगृह में ही रहे। राजाओं को स्व अर्जित भूमि से ही प्रेम होता है।

एक दिन रानी अपराजिता ने बलराम के जन्म सूचक हस्ती, सिंह, चन्द्र, और सूर्य ये चार स्वप्न देखे। उसी समय कोई महर्द्धिक देव ब्रह्म देवलोक से च्युत होकर जिस प्रकार हंस कमल वन में जाता है उसी प्रकार अपराजिता की कुक्षी में आया। यथा समय अपराजिता ने पुण्डरीक श्वेत कमल की तरह

श्वेत वर्ण युक्त, पुरुषों में पुण्डरीक, अग्नि कोण के दिग्गज-सा सम्पूर्ण लक्षण युक्त एक पुत्र को जन्म दिया।

प्रथम पुत्र-रत्न के मुख कमल को देखकर राजा दशरथ उसी प्रकार हर्षित हुए जिस प्रकार पूर्णचन्द्र के दर्शन से समुद्र हर्षित होता है। राजा चिन्तामणि रत्न की तरह याचकों को वांछित वस्तुएँ दान देने लगे। लोकश्रुति है पुत्र उत्पन्न होने पर दिया गया दान अक्षय होता है।

उसी समय लोक में इतना हर्ष हुआ कि लगा राजा की अपेक्षा नागरिकों को ही अधिक प्रसन्नता हुयी है। वे लोग दूर्वा फुल फलों से पूर्ण मंगलमय पात्र राजप्रासाद में लाने लगे। नगर के घर-घर में मंगलगान होने लगा। पथ पर केशर से सुवासित जल का छिड़काव किया गया। द्वार-द्वार पर तोरण बाँधे गए। उस पुत्र के प्रभाव से अन्य राजाओं के यहाँ से भी राजा दशरथ के पास अप्रत्याशित उपहार आने लगे। राजा दशरथ ने पद्मा—लक्ष्मी के निवास पद्म रूप उस पुत्र का नाम रखा पद्म किन्तु लोक में वह राम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तदुपरान्त रानी सुमित्रा ने रात्रि के शेष याम में वासुदेव के जन्म सूचक हस्ती, सिंह, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, लक्ष्मी और समुद्र इन सात् स्वप्नों को देखा। उसी समय एक परम महर्द्धिक देव ने देव लोक से च्युत होकर सुमित्रा के गर्भ में प्रवेश किया। यथा समय सुमित्रा ने भी वर्षा ऋतु के मेघ से वर्णवाले सर्व-लक्षण युक्त एक जगन्मित्र पुत्र को जन्म दिया।

उस समय राजा दशरथ ने समस्त नगर के अर्हत् चैत्यों में स्नात्र पूर्वक अष्ट प्रकारी पूजा करवायी और कारागार से बन्दियों को यहाँ तक कि शत्रुओं को भी मुक्त कर दिया। कहा भी गया है उत्तम पुरुष के जन्म लेने पर कौन सुख पूर्वक नहीं रहता?

उस समय प्रजा सहित केवल राजा ही प्रफुल्लित नहीं हुए देवी पृथ्वी भी उच्छ्वसित हो उठी। राजा ने राम जन्म के समय जितना उत्सव किया था उससे भी अधिक उत्सव इस समय किया। क्या हर्ष से कोई भी तृप्त हुआ है? दशरथ ने इस पुत्र का नाम नारायण रखा। किन्तु लोक में वह लक्ष्मण नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दूध पीने वाले दोनों शिशुओं ने क्रमशः पिता की दाढ़ी के केश खींचने की उम्र प्राप्त की। धात्रिओं द्वारा पालित उन दोनों कुमारों को राजा दशरथ अपनी दोनों भुजाओं की तरह देखने लगे। स्पर्श मात्र से मानो देह में अमृत

सिंचन कर देते हो इस प्रकार वे समास्थित लोगों की एक गोद से दूसरी गोद में बार-बार जाने लगे।

अनुक्रम से दोनों बड़े हो गए। दोनों नीलाम्बर और पीताम्बर पहन कर चरणों के दबाव से पृथ्वी को कम्पायमान करते हुए इधर-उधर घूमने लगे। मानों साक्षात पुण्य राशि हो इस प्रकार उन दोनों ने कलाचार्य को मानो साक्षी रख कर ही समस्त कलाओं को अधिगत कर लिया। वे दोनों पराक्रमी भाई जैसे बरफ को मुक्का मार कर चूर-चूर कर दिया जाता है उसी प्रकार बड़े-बड़े पर्वतों को मुष्टि प्रहार से चूर-चूर कर देते। व्यायाम शाला में व्यायाम करने के समय तीर को जब वे प्रत्यंचा पर चढ़ाते तब सूर्य भी इस आशंका से काँप उठता मानो वे उसे तीरबद्ध करेंगे। वे मात्र अपने भुजबल से शत्रुओं के बल को तृणवत् समझते थे। उनके शस्त्रास्त्रों के सम्पूर्ण कौशल और अपार भुजबल के कारण राजा दशरथ स्वयं को असुरों से भी अजेय समझने लगे।

कुछ काल व्यतीत होने पर राजा दशरथ अपने पुत्रों के पराक्रम से आश्वस्त होकर इक्ष्वाकुओं की राजधानी अयोध्या लौट गए। दुर्दशामुक्त दशरथ मेघ निमुक्त सूर्य की भाँति प्रताप से प्रकाशित होकर राज्य करने लगे।

कुछ समय पश्चात् रानी केकैयी ने शुभ स्वप्न द्वारा सूचित भरत क्षेत्र के अलंकार रूप भरत का जन्म दिया। सुप्रभा ने भी जिसकी भुजाओं का पराक्रम शत्रुघ्न—शत्रु नाशक है ऐसे कुलनन्दन शत्रुघ्न को जन्म दिया। दिन-रात एक साथ प्रेम प्रवंक रहने के कारण भरत और शत्रुघ्न द्वितीय बलदेव और वासुदेव की भाँति सुशोभित होने लगे। राजा दशरथ अपने चारों पुत्रों द्वारा इस प्रकार सुशोभित होने लगे जैसे चार गजदन्ताकृति पर्वत द्वारा मेरु सुशोभित होता है।

इसी जम्बूद्वीप के दारू नामक ग्राम में वसुभूति नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी अनुकोशा नामक पत्नी के गर्भ से अतिभूति नामक पुत्र का जन्म हुआ। उसने सरसा नामक एक स्त्री के साथ विवाह किया।

कयान नामक एक ब्राह्मण सरसा को देखकर उस पर मुग्ध हो गया। उसने एक दिन अवसर पाकर उसका हरण कर लिया। कामातुर क्या नहीं करता?

अतिभूति सरसा को खोजने के लिए भूत की भाँति सर्वत्र घूमने लगा। पुत्र और पुत्र-वधू की खोज में उसके पीछे-पीछे अनुकोशा और वसुभूति भी

घूमने लगे। वे बहुत जगह गए किन्तु कहीं भी पुत्र और पुत्र-वधू का सन्धान नहीं मिला। आगे बढ़ने पर उन्हें एक मुनि मिल गए। उन्होंने मुनि को भक्ति भाव से वन्दना की। उनकी देशना सुनकर दोनों के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः दोनों ने मुनि से दीक्षा ग्रहण करली। गुरु की आज्ञा से अनुकोशा कमल श्री नामक आर्यिका के पास रहने लगी। कालक्रम से वे दोनों मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए। व्रत यदि एक दिन भी पालन किया जाए तो स्वर्ग में ही जन्म होगा अन्यत्र नहीं।

वसुभूति वहाँ से च्युत होकर वैताढ्य पर्वत के रथनुपुर नगर में चन्द्रगति राजा के रूप में उत्पन्न हुआ। अनुकोशा का जीव भी वहाँ से च्यव कर विद्याधरपति चन्द्रगति की पुष्पवती नामक अनिन्द्य चरित्रा पत्नी रूप में उत्पन्न हुयी।

सरसा ने एक साध्वी के सम्पर्क में आकर दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु के पश्चात ईशान देवलोक में देवी रूप में उत्पन्न हुयी।

सरसा के विरह में पीड़ित अतिभूति मृत्यु के पश्चात संसार भ्रमण करते हुए एक बार हंस शिशु के रूप में जन्मा। उसी समय एक बाज पक्षी ने उसे अपने पंजों में पकड़ लिया किन्तु वह पंजों से स्खलित होकर आकाश से एक मुनि के सामने आ गिरा। उसके प्राणों को समाप्त होते देखकर मुनि ने नमस्कार मंत्र सुनाया। उस मंत्र के प्रभाव से वह मृत्यु के पश्चात किन्नर जाति की व्यंतर योनि में दस हजार वर्ष का आयुष्य लेकर देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर वह विद्या नामक नगर में प्रकाश सिंह राजा की रानी प्रवरावली के गर्भ से जन्म लिया और कुण्डलमंडित नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कयान भोगासक्ति में मृत्यु प्राप्त कर चिरकाल तक संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता हुआ चन्द्रपुर के राजा चन्द्रध्वज के पुरोहित धूमशिख की पत्नी स्वाहा के गर्भ से पिंगल नामक पुत्र के रूप में जन्म लिया। पिंगल और चन्द्रध्वज राजा की कन्या अति सुन्दरी एक ही गुरु से एक साथ पढ़ते थे। वहाँ दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। तब पिंगल छलना का आश्रय लेकर उसका अपहरण कर विदग्ध नगरी में ले गया। कला और विज्ञान हीन पिंगल काष्ठ और तृण विक्रय कर किसी प्रकार उसका भरण-पोषण करने लगा। निर्गुणी और कर ही क्या सकता ?

वहाँ अति सुन्दरी को राजपुत्र कुण्डलमंडित ने देखा। दोनों में प्रेम हो

जाने से कुण्डलमंडित ने उसका अपहरण कर लिया और पिता के भय से एक दुर्गम प्रदेश में ले गया और वहाँ कुटी बनाकर रहने लगा।

पिंगल अति सुन्दरी के विरह में उन्मत्त होकर चारों ओर उसे खोजने लगा। उसी समय आर्यगुप्त नामक एक आचार्य से उसका मिलना हुआ। उनसे धर्म श्रवण कर वह दीक्षित हो गया। दीक्षित होने पर भी उसके मन से अति सुन्दरी का प्रेम नहीं गया।

कुण्डलमंडित दुर्गम स्थल में रहकर कुत्ते की तरह बार-बार राजा दशरथ के राज्य में लूटपाट करने लगा। राजा दशरथ ने बालचन्द्र नामक एक सामन्त को उसे पकड़ने का आदेश दिया। बालचन्द्र ने उसे बन्दी बनाकर राजा दशरथ के सन्मुख उपस्थित किया। राजा ने कुछ दिनों तक उसे बन्दी रखकर छोड़ दिया। शत्रु के दीन होने पर महान पुरुषों का कोप शान्त हो जाता है।

तब कुण्डलमंडित पितृराज्य प्राप्त करने के लिए स्वराज्य की ओर जाने लगा। राह में मुनिचन्द्र नामक मुनि से धर्म श्रवण कर उसने श्रावक व्रत ग्रहण कर लिया। राज्य की इच्छा लिए मृत्यु होने पर वह मिथिला नगरी के राजा जनक की रानी विदेहा के गर्भ से पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ।

सरसा ईशान देवलोक में देवी रूप में उत्पन्न हुयी। वहाँ से च्युत होकर एक पुरोहित की कन्या के रूप में उत्पन्न हुयी। उसका नाम वेगवती रखा गया। उस जीवन में भी दीक्षा लेकर वह मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुयी। वहाँ से च्युत होकर वह रानी विदेहा के गर्भ में कुण्डलमण्डित के जीव के साथ कन्या रूप में अवतरित हुयी।

समय होने पर विदेहा ने एक पुत्र एक कन्या के रूप में युगल सन्तान को जन्म दिया। ठीक उसी समय पिंगल मुनि मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। अवधि ज्ञान से अपना पूर्वभव जानकर उस जन्म के वैरी कुण्डलमण्डित को राजा जनक के यहाँ पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करते देखा। पूर्वभव के वैर के कारण रुष्ट होकर उसने उसका अपहरण कर लिया।

अपहरण कर ले जाते समय उसने सोचा इसे पत्थर पर पटक कर मार डालूं। किन्तु फिर सोचा पहले ही मैंने बहुत नीच कर्म, किए हैं जिन्हें की कइ जन्मों तक भोगना पड़ा है। बाद में दैवयोग से मुनि बना और इस उच्च स्थिति को प्राप्त किया। अब इस शिशु की हत्या कर अनेक भव-भ्रमण का कारण क्यों बनू ?

यह सोचकर कुण्डलादि अलंकारों से बालक को भूषित कर आकाश से

स्खलित नक्षत्र की भ्रान्ति उत्पन्न कर रथुनुपुर में उतरा और बालक को बिछावन में जैसे सुलाया जाता है उसी प्रकार नन्दनोद्यान में धीरे से सुला दिया। आकाश से स्खलित नक्षत्र द्युति को चन्द्रगति ने देखा। 'यह क्या हुआ' जानने के लिए वह द्युति का अनुसरण करते हुए नन्दन उद्यान में आया और दिव्य अलंकार भूषित एक बालक को देखा। पुत्रहीन वह विद्याधर पति तुरन्त उसे पुत्र रूप में ग्रहण कर राज प्रासाद में ले गया और अपनी पत्नी पुष्पवती को दे दिया। तदुपरान्त राजसभा में जाकर बोला, 'आज देवी पुष्पवती ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया है।

राजा और पुरवासियों ने उसका जन्मोत्सव मनाया। भामण्डल अर्थात् कान्तिपुंज के रूप में उसको उतरते देखा था अतः उसका नाम रखा भामण्डल। पुष्पवती और चन्द्रगति के नेत्ररूपी कुमुदों के लिए चन्द्ररूप वह बालक खेचरियों द्वारा ललित होकर अहर्निश बड़ा होने लगा।

उधर मिथिला में पुत्र का अपहरण हो गया जानकर रानी विदेहाने करूण स्वर से क्रन्दन कर आत्मीय परिजनों को शोकसागर में निमज्जित कर दिया। राजा जनक ने उसके अनुसन्धान के लिए चारों ओर आदमी भेजे किन्तु बहुत दिन बीत जाने के पश्चात् भी बालक का कोई पता कहीं से भी नहीं मिला।

राजा जनक ने उस कन्या को अनेक गुणरूपी धान्य उत्पन्न हुआ है समझ कर उसका नाम रखा सीता। क्रमशः उनका पुत्रशोक कम हो गया। कारण संसार में मनुष्य का हर्ष और शोक तो आता-जाता ही रहता है।

कुमारी सीता रूप और लावण्य के साथ-साथ क्रमशः बुद्धिवान भी होने लगी। धीरे-धीरे वह चन्द्रलेखा की तरह कलापूर्ण हो उठी। यौवन प्राप्त होने पर उस कमलाक्षी ने उत्तम लावण्यमय लहरों से युक्त सरिता का रूप धारण कर लिया। सती लक्ष्मी-सा उसका वह अपरूप रूप देखकर राजा जनक दिन-रात यही सोचने लगे इसके योग्य पति कौन होगा? मन्त्रियों से परामर्श कर उन्होंने अनेक राजकुमारों को देखा किन्तु कोई भी सीता के योग्य पतिरूप में उन्हें नहीं जँचा।

उसी समय अर्द्धवर्वर देश के आतरंगतम आदि दैत्य की तरह म्लेच्छ राजाओं ने जनक के राज्य में आकर उपद्रव शुरू कर दिया। कल्पान्त काल के जल प्रवाह की तरह उनकी गति उनसे नहीं रोकी जायेगी समझकर जनक ने राजा दशरथ के पास सहायता के लिए दूत भेजा। [क्रमशः

संकलन

॥ राजगृह का गौरव शिखर—वैभारगिरि ॥

लौकिक दृष्टि से उपाध्याय श्रीजी एक सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित हुए थे, जहाँ उनके साधना-जीवन का उदय हुआ था परन्तु उनकी साधना का प्रभाव एक राष्ट्र और एक प्रान्त की सीमा में कभी आबद्ध नहीं रहा और न ही संकीर्ण साम्प्रदायिकता की छोटी-सी कारा में बन्द हुआ। उनका सीमातीत ज्ञान, चिन्तन, उपदेश तथा कर्म किसी वर्ग विशेष, जाति या सम्प्रदाय मात्र के लिए नहीं अपितु, सम्पूर्ण मानव जाति के साथ-साथ अखिल प्राणी जगत् के हित, कल्याण तथा अभ्युदय के लिए है। तभी तो उनका यह वज्र आघोष रहा कि—"प्राणी मात्र के अभ्युदय की कामना एवं उसके लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही मानव का अपना उदय है। जो दूसरे का हित, विकास तथा अभ्युदय नहीं चाहता और उसके लिए प्रयत्न नहीं करता, उसका अपना विकास एवं उदय भी नहीं होता।"

अमर भारती, जुलाई १९९२

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

जैन जर्नल ॥ अप्रैल १९९२

इस अंक में है 'Georg Buhler and the Western Discovery of Jain Temple Libraries' (Donald Clay Johnson), 'Sacred Literature of the Jains' (Albrecht Friedrich Weber), 'Jain Monastic Rules' (Swami Brahmeshananda), 'Jainism and Nepal' (H. C. Golchha.)

तुलसी प्रज्ञा ॥ अप्रैल-जून १९९२

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन परम्परा के विकास में श्राविकाओं का योगदान' (डॉ. महावीर राज गेलड़ा), 'पंचपरमेष्ठिपद और अर्हन्त तथा अरिहन्त शब्द' (डॉ. परमेश्वर सोलङ्की), 'गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास' (डॉ. सागरमल जैन), 'जैन एवं जैनेतर राजनीति में दूतं' (डॉ. सुनीता कुमारी), 'जैन दर्शन—स्याद्वाद पद्धति' (राजवीर सिंह शेखावत), 'तेरापन्थ का राजस्थानी साहित्य (२)' (मुनि सुखलाल), 'तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास (२)' (मुनि गुलाबचंद्र 'निर्मोही'), 'षड् आस्तिक एवं बौद्ध दर्शनों में मान्य कर्मवाद से जैन सम्मत कर्मवाद की विशिष्टता' (डॉ. कमला पन्त), 'Xandrames and Sandracottus' (Upendra Roy), 'An Examination of Brahma-Sutra II,2,33' (Dr. Ramjee Singh).

तीर्थंकर ॥ अगस्त १९९२

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'दोषी कौन' (कन्हैयालाल सरावगी), 'उसे नहीं मालूम, वह क्या खोज रहा है !', 'वह नारी है, वह माँ है, वह प्रिया है' (वीरेन्द्र कुमार जैन) ।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Factory and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 30-2071

Branch Office :

Peerkhanpur : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-330

Vol. XVI No. 5 TITTHAYARA September 1992

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77